शोध मंथन ISSN: (P): 0976-5255 (e): 2454-339X Impact Factor 6.726 (SJIF)
Vol. X, No.IV, pp (1035-1042) Oct.- Dec. 2019

गाँधी की दृष्टि में वर्ण–व्यवस्था

डॉ0 माईकल
स्नातकोत्तर गाँधी विचार विभाग,
तिलकामाँझी भागलपुर, विश्वविद्यालय
भागलपुर, बिहार– 812007
Emai- drmaikalbh@gmail.com

सारांश

हम जानते हैं कि हिन्दू बहुल भारतीय समाज व्यवस्था का मूल आधार वर्ण व्यवस्था है। यह एक वैदिक धारणा है जिसके अनुसार समाज को चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में बाँटा गया और इसे गुण एवं कर्म पर आधारित बताया गया। इसके अनुसार, जिनसे सतो गुण की प्रधानता है, वह ब्राह्मण, जिनमें सतो मिश्रित रजो गुण की प्रधानता है, वे क्षत्रिय, तमो मिश्रित रजो गुण की प्रधानता है, वे वैश्य और जिनमें तमोगुण की प्रधानता है, वे शूद्र हैं। तदनुसार ऐसा माना गया कि ब्राह्मणों द्वारा विद्या का संवर्धन किया जाना चाहिए, क्षत्रिय को अस्त्र–शस्त्र धारण करना चाहिए, वैश्य को व्यापार करना चाहिए और शूद्र को अन्य तीनों वर्णों की सेवा करनी चाहिए। वेद, मनुस्मृति, गीता आदि धार्मिक ग्रन्थों के द्वारा वर्ण–व्यवस्था को दैवीय एवं अपरिवर्तनशील करार दिया गया और ऐसी धारणा बनाई गई कि वर्णधर्म (स्वधर्म) के पालन के जरिए ही व्यक्ति लौकिक एवं पारलौकिक जीवन में सुख तथा चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। वस्तुतः एक ओर तो हमारे धार्मिक ग्रन्थों में ऐसा विश्वासों की झलक मिलती है कि ब्रह्माण्ड में मानव ही सबसे अधिक मेधावी जीव है जिसे देवों ने स्वयं चुना है। यह भी कहा गया है कि मानव प्रकृति की अनोखी कृति है और सभी मानव समान हैं। परन्तु दूसरी ओर हम देखते हैं कि उस युग के सामाजिक जीवन में इन उद्दात लक्ष्यों का सर्वथा अभाव है। यह स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन में इन विलक्षण सत्यों के लिए कोई स्थान नहीं था। भारतीय सामज हजारों वर्षों से इस दोमुंहेपन का शिकार रहा है।

प्रस्तावना

ऐतिहासिक तौर पर मानव समाज के विकास के प्रारम्भिक चरण में व्यवसाय के आधार पर समाज का विभाजन उस युग की आवश्यकताओं के अनुकूल हो सकता था। इसी कारण ऐसा विभाजन किया गया हो। वह बात स्वाभाविक थी कि कारीगर वंशानुसार योग्यता और कुशलता से ओत–प्रोत होंगे। इस दृष्टि से जातिभेद की कुछ विशेषताएँ तो समाज के प्रारम्भिक युग से चली आ रही है। आर्यों का समाज त्रिवर्ण समाज चर्तुवर्ण समाज बन गया। अनार्यों को उनकी शक्ति, एकता और विरोध करने की योग्यता के आधार पर समाज में दर्शा

1036 Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com/* https://doi.org/10.31995/shodhmanthan

दिया गया। ब्राह्मण जाति स्थिर रही क्योंकि ब्राह्मण वेदों को पढ़ते–पढ़ाते थे और कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठान करवाते थे। परन्तु अन्य जातियों में यह स्थिरता नहीं रही। क्षत्रियों को ही लीजिए– वे एकमात्र शासक नहीं थे। महापद्मनन्द क्षत्रिय नहीं थे और उसके बाद दो हजार साल तक क्षत्रिय का कहीं पता नहीं है। बहुत से प्रसिद्ध और शक्तिशाली राजा क्षत्रिय नहीं थे। मौर्य थे और गुप्त कुल के राजा वैश्य थे। वैश्य व्यवसाय में लगे थे और उनमें विभिन्न वर्गों के कई प्रकार के लोग थे। वर्ग ऐसे नहीं थे कि कोई उनमें से छोड़कर दूसरे वर्ग में न जा सकता हो।[1]

आमतौर पर महात्मा गाँधी को वर्ण–व्यवस्था का समर्थक माना जाता है। लेकिन, गाँधी के वर्ण–व्यवस्था संबंधी विचारों को दो चरणों में बाँटकर देखने कि जरूरत है। पहला चरण 1915 से 1932 तक और दूसरा 1932 से जीवन के अंतिम समय तक है। पहले चरण में, गाँधी अस्पृश्यता का तो पुरजोर विरोध करते हैं, लेकिन वर्ण–व्यवस्था का समर्थन करते हैं। गाँधी के अनुसार, वर्ण–व्यवस्था कोई मानवीय खोज नहीं, बल्कि प्रकृति का एक अकाट्य नियम है। जिस प्रकार, गुरुत्वाकर्षण का नियम न्यूटन द्वारा खोजे जाने के पूर्व से ही विद्यामान है, उसी प्रकार, वर्ण–नियम भी सदा सर्वदा प्रकृति में मौजूद रहा है। यह कार्य हिन्दुओं को सौंपा गया कि उस नियम की खोज करें। वर्ण–व्यवस्था प्रकृति का ही एक अंग और मानव अस्तित्व का एक शाश्वत नियम है। यह अनिवार्यतः हिन्दू धर्म का एक अपृथक अंग है और इसी ने हिन्दू धर्म की रक्षा की है।[2] यहाँ गाँधी वर्ण–व्यवस्था के माध्यम से अपने धर्म को दीर्घजीवी बनाना चाहते थे। इसलिए, वे वर्णाश्रम के संबंध में गीता एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों में व्यक्त विचारों को तत्कालीन संदर्भों के साथ मजबूती से रखते हैं। वे कहते थे कि सीमाओं को ध्यान में रखते हुए वर्ण नियम ऊंच–नीच के किसी भेदभाव को नहीं मानता। एक आदर्श समाज–व्यवस्था उसी समय विकसित होगी, जब इस नियम के निहितार्थ पूर्णतः समझ लिए जाते हैं और उसे व्यावहारिक रूप दिया जाता है। वर्णाश्रम में पृथ्वी पर मनुष्य के मिशन को शरीर और आत्मा की एकता के लक्ष्य को लेकर परिभाषित किया जाता है।[3] उनके अनुसार– "वर्ण और आश्रम ऐसी संस्था है, जिसका जाति से कोई संबंध नहीं है। वर्ण नियम हमको यह शिक्षा देता है कि हममें से प्रत्येक को अपनी जीविका अपने पूर्वजों के धंधे का अनुसरण करके कमानी है। यह हमारे अधिकारों को नहीं, बल्कि कर्त्व्यों को परिभाषित करता है और वर्ण नियम में ऐसी कोई बात नहीं है जो छुआ छूत में विश्वास कि गारंटी देता है।[4]

गाँधी के अनुसार वर्ण–व्यवस्था में कार्यों का विभाजन सामाजिक सामंजस्य व एकता में सहायक है। वे मानते थे कि वर्ण–व्यवस्था अनावश्यक प्रतिद्वंद्विता को समाप्त करता है और इसमें किसी भी प्रकार के ऊंच–नीच का कोई प्रश्न नहीं है। उनका यह भी कहना था कि समाज में आई विकृतियों के लिए वर्ण– व्यवस्था में बिखराव अर्थात् 'वर्ण–अव्यवस्था' जिम्मेदार है। वे कहते थे– "मेरा अपना विचार है कि आज तो वर्ण–व्यवस्था टूट गई है। आज न कोई सच्चा ब्राह्मण रह गया है, न सच्चा क्षत्रिय और न सच्चा वैश्य। हम सब शूद्र हैं, अर्थात् एक ही वर्ण के हैं। यदि यह स्थिति स्वीकार कर ली जाए, तो बात आसान हो जाती है। यदि इससे हमारे अहम की तुष्टि नहीं होती, तो यही मान लें कि हम सब ब्राह्मण हैं। निश्चय ही; अस्पृश्यता–निवारण

का मतलब ऊंच–नीच के भाव का समूल नष्ट कर दिया जाना है।[5]

गाँधी के अनुसार वर्ण–धर्म विशेष प्रवृत्तियों के कुछ लोगों के कार्यक्षेत्र स्थापित करता है, इससे समस्त अवांछनीय स्पर्द्धा का अंत हो जाता है। सीमाओं को ध्यान में रखते हुए वर्ण–नियम ऊंच–नीच के किसी भेदभाव को नहीं मानता। एक आदर्श समाज–व्यवस्था उसी समय विकसित होगी, जब इस नियम के निहितार्थ पूर्णतः समझ लिए जाएंगे और उसे व्यावहारिक रूप दे दिया जाएगा। लेकिन, जाति–प्रथा को शुद्ध बनाने और अस्पृश्यता को समाप्त करने की जरूरत है।[6] कुल मिलकर हम देखते हैं कि प्रारम्भ में गाँधी वर्ण–व्यवस्था एवं जाति–व्यवस्था दोनों के पक्षधर थे। लेकिन, 3 फरवरी 1925 को गाँधी ने कहा था, "जाति–प्रथा का समर्थन मैंने इस आधार पर किया था कि वह संयम सिखाती है, परन्तु आजकल जाति–प्रथा का अर्थ संयम नहीं, वरन् अब वे सीमाबद्ध हो गई हैं। संयम अच्छा होता है और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सहायक सिद्ध होता है। लेकिन, सीमाबद्ध होना बेड़ियों के समान है। जातियों जिस रूप में आज हैं, उस रूप में उनकी तारीफ नहीं की जा सकती। आजकल जातिया शास्त्र विरोधी हो गई हैं। जातियों की संख्या असीम है, जिनमें पारस्परिक विवाह संबंध के प्रतिबंध लगे हैं। यह उत्थान का लक्षण नहीं, वरन् पतन का मार्ग है। इसलिए गाँधी के अनुसार, सर्वोत्तम उपाय यह है कि छोटी–छोटी जातियाँ अपना अलग अस्तित्व समाप्त कर बड़ी जाति बन जाएँ। ऐसी बड़ी जातियों की संख्या चार हो, जिससे प्राचीन चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था की पुनर्स्थापना हो सके। जाहिर है कि वर्ष 1925 में गाँधी जाति–व्यवस्था को छोड़कर केवल वर्ण–व्यवस्था के पक्षधर हो गए। लेकिन, जैसे–जैसे अस्पृश्यता–उन्मूलन आन्दोलन व्यापक होता गया, गाँधी के वर्ण–व्यवस्था संबंधी विचारों में बदलाव आया। दिसंबर 1920 में गाँधी ने लिखा, "दूसरी प्रथाओं की तरह यह प्रथा भी बहुत से अस्वस्थ और अनावश्यक रीति–रिवाजों का शिकार बन गई है। मैं समाज के सिर्फ चार बड़े विभाजन को ही मूलभूत, कुदरती और जरूरी मानता हूँ।[7]

गाँधी हिन्दू धर्म वर्ण–व्यवस्था में छेड़–छाड़ पसंद नहीं करते थे। गाँधी ने 25 मई, 1920 को सी. एफ. एंड्रयूज को लिखे पत्र में लिखा– "मैं विवाह में स्त्री और पुरुष के चुनाव पर कुछ अनुशासनिक बंधनों को भी लागू करना चाहूँगा, जैसे किसी भाई का अपनी बहन से विवाह करना अनुचित माना जाएगा। वैसे ही किसी पुरुष या स्त्री का अपने समुदाय, जिसे हम जाति कह सकते हैं, से बाहर विवाह करना मैं अनुचित ठहराऊंगा। इस तरह मैं ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दूँगा कि कोई व्यक्ति विवाह के संबंध में अपने समुदाय या जाति से बाहर के लोगों के विषय में सोचें ही नहीं और अगर किसी स्त्री या पुरुष को उसके लिए निर्धारण क्षेत्र के भीतर कोई योग्य पात्र नहीं मिलता है, तो उसे ब्रह्मचर्य के जीवन में ही संतोश करना होगा। दूसरे शब्दों में, मैं इस मामले में बेलगाम स्वेच्छाचारिता में विश्वास नहीं करता। अधिकांश विवाहों के पीछे शारीरिक आकर्षण की ही प्रेरणा रही है। मैं इस आकर्षण के क्षेत्र को संकुचित कर देना चाहूँगा। ..मेरे विचार से जाति प्रथा का यदि ठीक से नियमन किया जाए, तो वह एक उपयोगी संस्था है। अस्पृश्यता ईश्वर के प्रति और मानवता के प्रति एक अपराध है। जाति–प्रथा को मैं शुद्ध बनाऊँगा, किन्तु अस्पृश्यता को समाप्त ही कर दूँगा। अगर मणिलाल (गाँधी के दूसरे पुत्र) किसी अछूत लड़की के प्रेम में पड़

1038 Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com/* https://doi.org/10.31995/shodhmanthan

जाए, तो मैं उसके इस चुनाव के संबंध में कोई आपत्ति नहीं करंगा, लेकिन यह अवश्य मानूँगा कि वह मेरी शिक्षा को अपने जीवन में उतार नहीं सका। इस मामले में मैं उसे अपनी जाति की सीमा के भीतर ही रहने को कहूँगा– सो कुछ इसलिए नहीं कि दूसरे जातियों के प्रति अपने मन में घृणा या अरुचि के भाव वश वह ऐसा करें, बल्कि इसलिए कि मैं चाहूँगा वह संयम बरते। . ..मैं यह पसंद नहीं करूंगा कि ब्राह्मण अपनी जाति की सीमा से बाहर आकर जहाँ–तहाँ जिस–तिस के साथ खाता फिरे।[8]

इस तरह यहाँ तक गाँधी किसी न किसी रूप में वर्ण–व्यवस्था के साथ–साथ जाति–प्रथा का समर्थक नजर आते हैं। लेकिन कुछ ही महीनों बाद दिसंबर 1920 में उन्होंने जाति–प्रथा की बाजी सिर्फ वर्ण–व्यवस्था के समर्थन में ही पुरजोर तर्क प्रस्तुत किए। उन्होंने लिखा– "दूसरी प्रथाओं की तरह यह प्रथा भी बहुत से अस्वस्थ और अनावश्यक रीति–रिवाजों का शिकार बन गई है। मैं समाज के सिर्फ चार बड़े विभाजनों को ही मूलभूत, कुदरती और जरूरी मानता हूँ। बेशुमार उपजातियों से कभी–कभी कुछ अच्छा भी होता है, लेकिन अक्सर उनसे अड़चन ही पैदा होती है। ऐसी उपजातियाँ जितनी जल्दी एक हो जाएँ उतनी ही समाज की भलाई है। लेकिन मैं मौलिक वर्ण–विभाजन को तोड़ने की किसी भी कोशिश के खिलाफ हूँ। वर्ण–विभाजन असमानता पर आधारित नहीं है, उसमें ऊच–नीच का भी कोई सवाल नहीं है। जहाँ ऊच–नीच का ऐसा कोई सवाल उठ रहा है, उदाहरणार्थ मद्रास, महाराष्ट्र या अन्य स्थानों में, वहाँ उसे जरूर रोका जाना चाहिए।[9]

आगे गाँधी जाति–व्यवस्था को मिटाने की बात करते रहे। उनकी दृष्टि में– प्रचलित जाति–प्रथा वर्णाश्रम के बिल्कुल विपरीत है, अतः इसको जनता जितनी ही जल्दी समाप्त कर दें, उतना ही अधिक ठीक है। जाति का धर्म से कोई संबंध नहीं है। फिर यह राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता दोनों के विकास में बाधक है। वे कहते थे– "वर्ण और आश्रम ऐसी संस्था है, जिनकी जाति से कोई संबंध नहीं है। वर्ण नियम हमको यह शिक्षा देता है कि हममें से सबको अपनी जीविका अपने पूर्वजों के धंधों का अनुसरण करके कमानी है। वह हमारे अधिकारों को नहीं, बल्कि कर्त्तव्यों को परिभाषित करता है और वर्ण नियम में ऐसी कोई बात नहीं है, जो छुआछूत में विश्वास की गारंटी देता है।[10]

वास्तव में गाँधी के अन्य विचारों की तरह वर्ण–व्यवस्था संबंधी विचारों में भी निरंतर प्रगति देखने को मिलती है। जहाँ प्रारंभ में गाँधी वर्ण–व्यवस्था एवं जाति–व्यवस्था को एक मानते हैं वही यहाँ वे दोनों को अलग–अलग करके देखते। लेकिन, अभी भी वे वर्ण–व्यवस्था की वकालत कराते हैं। उन्होंने माना कि जाति तोड़ने का अर्थ वर्ण उच्छेद मानना अदूरदर्शिता है, अस्वीकार्य है। वे वर्ण–व्यवस्था के समर्थन में अपने पुराने तर्कों पर अडिग दिखते हैं। साथ ही उनका यह विश्वास दृढ़ होते दिखता है–"हिंदुस्तान में और सारी दुनिया में लोकतन्त्र की जो भावना तेजी से फेल रही है, उसके असर से वर्ण–व्यवस्था से भी ऊच–नीच के ख्याल अपने–आप मिट जाएँगे। लोकतन्त्र की भावना कोई यांत्रिक वस्तु नहीं है कि समाज के बाहर ढाँचे में जोड़–तोड़ करके उसे उसके अनुकूल बना लिया जाए। यह तो हृदय–परिवर्तन की अपेक्षा रखती

है। अगर लोकतन्त्र की भावना के फैलाव में जात–पाँत रुकावट हो, तो हिंदुस्तान में जो एक साथ हिन्दू–ईसाई, इस्लाम, पारसी और यहूदी–पाँच धर्म वर्तमान हैं, वे भी इसमें रुकावट ही बनेंगे। लोकतन्त्र की भावना लोगों में भ्रातृत्व के संचार की अपेक्षा रखती है। ...और मुझे तो किसी ईसाई या मुसलमान को इसी तरह अपना भाई मानने में कोई अड़चन नहीं मालूम होती, जिस तरह मैं सहोदर को भाई मानूँगा। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जो हिन्दू वर्ण–व्यवस्था के लिए जिम्मेवार है, उसी हिन्दू धर्म ने सिर्फ मनुष्य के प्रति नहीं, बल्कि जीव–मात्र के प्रति अनिवार्य रूप l sHkkr Ro Hkko j [kusd k fo/kku Hkh fd ; kA[11]

फिर 1942 ई. के बीतते–बीतते, तो उन्होंने छुआ छूत मिटाने के लिए विभिन्न जातियों एवं वर्णों के बीच रोटी–बेटी संबंधों को बढ़ावा देने की बात कही। 1945 ई. में तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया– "अगर शादी एक ही जाति में है, तो मेरा आशीर्वाद मत मांगना, यों लड़की कैसी भी हो, अगर विजाति है, तो आशीर्वाद है। जाहिर है कि जाति उन्मूलन के लिए उन्होंने जातियों के बीच आपसी मेलजोल एवं खानपान के साथ–साथ अंतर्जातीय एवं अंतर्वर्णीय विवाहों का भी समर्थन किया। गाँधी ने अपना अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए तो एक तरह से अपना सारा जीवन ही लगा दिया। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका से लेकर सेवाग्राम तक अपने आश्रमों में अस्पृश्यता निवारण की दिशा में ठोस पहल की। उनका विश्वास था कि अस्पृश्यता एक अपराध है और मानवता के विरुद्ध पाप भी इसे वे हिन्दू धर्म के माथे पर कलंक मानते थे। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि अस्पृश्यता जीवित रहे, इससे अच्छा है कि हिन्दू धर्म ही समाप्त हो जाए।[12] उन्होंने अस्पृश्यता उन्मूलन को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक प्रमुख कार्यक्रम के रूप में शामिल कराया और इसे स्वराज्य प्राप्ति से जोड़ा। उन्होंने लिखा है– "हमारे बीच से जब तक अस्पृश्यता के अभिशाप को दूर नहीं किया जाता तब तक स्वराज्य प्राप्ति हो ही नहीं सकती।[13] मार्क्सवादी चिंतक के दामोदरन ने गाँधी के अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को दलितों में आत्मविश्वास जलाने का उपक्रम माना है। उनके अनुसार– वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखा जाए, तो अस्पृश्यता पर उनके आक्रमण और उनके द्वारा चलाए गए 'हरिजन आन्दोलन' से वर्णाश्रम का पुनरुत्थान नहीं हुआ, वरन् उससे सामंत की जड़ें ही कमजोर हुईं। उनका संदेश शीघ्र ही देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया और अज्ञान तथा दरिद्रता के शिकार लाखों देशवासियों में उसने नया आत्मविश्वास पैदा किया। उसने देश भक्ति की नई ज्योति जलायी और अन्याय तथा दमन के विरुद्ध जूझने के लिए आम जनता को उत्प्रेरित किया।[14]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गांधी भारत को आंतरिक एवं ब्राह्म दोनों ही प्रकार की दासताओं से मुक्त करना चाहते थे। श्रीभगवान सिंह के अनुसार– "गाँधी के लिए पूरा भारत ही दलित था, जिसके दो पक्ष थे–पहला आंतरिक दलन और दूसरा बाहरी दलन। आंतरिक दलन के शिकार वे बेशुमार जन थे, जिन्हें 'अछूत' बनाकर पशु से भी बदतर जीवन जीने को बाध्यकर रखा गया था। साथ ही 'स्त्री' जाति थी, जो शिक्षा एवं सामाजिक समानता के अधिकारों से वंचित तो थी ही, इसके अतिरिक्त बाल–विवाह, बाल–विधवा, वैश्या, देवदासी जैसी कुप्रथाओं के कारण भी दलित बनी हुई थी। इसे ही डॉ. पूरनचन्द्र जोशी जैसे समाजशास्त्री 'आंतरिक उपनिवेशवाद'

1040 Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com/* https://doi.org/10.31995/shodhmanthan

की संज्ञा देते हैं, जिसकी शिकार मुख्य रूप से अछूत जाति एवं स्त्री जाति थी। ब्राह्म दलन में थी–ब्राह्म औपनिवेशिक सत्ता देश को राजनीतिक रूप से गुलाम बनाकर देश के संसाधनों का मनमाने ढंग से दोहन करना, यहाँ की जनता के साथ असमानतापूर्ण व्यवहार करना और अँग्रेजी भाषा एवं शिक्षा को थोपकर यहाँ की भाषा एवं संस्कृति का क्षरण करना। इस तरह एक राष्ट्र के रूप में दलित भारत के मुख्य रूप से ये चार पक्ष थे–पहला, अछूतों का दलन, दूसरा, स्त्रियों का दलन, तीसरा, भाषा–शिक्षा के स्तर पर दलन तथा चौथा, राजनैतिक दलन, जिसके अंतर्गत राजनैतिक पराधीनता से लेकर आर्थिक शोषण तक के मुद्दे शामिल थे।[15]

गाँधी जी ने वर्ण व्यवस्था का चित्रण करते हुए लिखा है कि "अगर आश्रम–व्यवस्था इस तरह बिगड़ गयी है, वर्ण–व्यवस्था की हालत भी इससे कुछ अच्छी नहीं है। मूलतः चार वर्ण थे। अब अनगिनत हैं। यदि जातियों के बराबर वर्ण मानें, तो जातियों का पार ही नहीं और यदि यह मानें कि जातियों का वर्णों से कोई संबंध ही नहीं है, तो एक ही वर्ण रहा है और वह है–शूद्र। यहाँ 'शूद्र' शब्द दोषसूचक नहीं है, लेकिन वस्तुस्थिति का सूचक है, जो वर्ग नौकरी करता है, वह पराधीन है, यानि शूद्र है। आज तो सारा हिंदुस्तान पराधीन है, इसलिए वह शूद्र है। किसान अपनी जमीन का मालिक नहीं, व्यापारी अपने व्यापार का मालिक नहीं। शास्त्रों में ब्राह्मणों और क्षत्रिय के जो गुण बतलाये गये हैं, वैसे गुणवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय भाग्य से ही देखने को मिलते हैं। कृजब वर्ण–व्यवस्था की खोज हुई थी, तब मेरे ख्याल में ऊच–नीच की भावना नहीं थी। इस संसार में न तो कोई ऊँचा है, न नीचा, इसलिए जो अपने को नीचा मानता है वह सिर्फ अज्ञान के कारण ही मानता है। उसे नीचा होने का पाठ उसके सहारे ऊंचापन भोगने वालों ने सिखाया है।[16]

इसलिए महात्मा गाँधी ने भारतीय समाज के सबसे निचले पायदान अर्थात् अछूत कहे जाने वाले को 'हरिजन' की उपमा दी और उनके उत्थान का प्रयत्न किया। उन्हें हरिजन शब्द प्रिय था तो इसके ठोस कारण थे। वे दलितों को सवर्ण समाज की ओर से संबोधित कर रहे थे। जब हम उस वर्ग को अपने द्वारा चुना गया नाम चाहते हैं, तो इसके लिए हमें समुचित प्रयास करना होगा–उस वर्ग में अपनी स्वीकार्यता बढ़ानीहोगी। उन्होंने इसकी कोशिश की किन्तु उनके चेले इतने संवेदनशील नहीं निकले। किसी और ने उस संवेदना को आगे बढ़ाने का प्रयास नहीं किया।[17]

गाँधी जी ने पुरानी व्यवस्था पर सबसे अधिक शक्तिशाली प्रहार किया। वे दृढ़ कदमों से बुराइयों से जूझते हुए बड़ी सावधानी से आगे बढ़े। उन्होंने भारतीय समाज के चार वर्णों की व्यवस्था के पीछे निहित धारणाओं को चुनौती देकर अपना आन्दोलन प्रारंभ नहीं किया, परंतु फिर भी वह इस व्यवस्था की जड़ें हिलाने में सफल हुए। बापू ने जो कार्य प्रारंभ किया था, उसे हमें पूरा करना है। हमें इस बात को समझना पड़ेगा कि मानव के कार्यकलाप का वास्तविक साध्य स्वतन्त्रता है। जो भी व्यक्ति मानवीय प्रतिष्ठा में बाधा डालता है या उसे हानि पहुँचाता है वह स्वतन्त्रता कि राह का रोड़ा है। इस बात को समझना पड़ेगा कि मानवीय आत्मा के प्रसार और उसकी स्वतन्त्रता के उद्देश्य का नाकारात्मक पहलू छूआछुत और जात–पात का उन्मूलन है।[18]

भारतीय समाज के बारे में जगजीवन राम का कथन है– "हमारे भारतीय समाज में पहली आवश्यकता इस बात की थी और अभी है कि सबको समान अवसर दिया जाये। संविधान में भी यह बात मानी गई है कि हमारे गणराज्य में प्रत्येक नागरिक को सभी बातों के लिए समान अवसर प्राप्त होंगे। यह समान अवसर प्रत्येक नागरिक को दिलाना हम सभी का कर्त्तव्य है।[19] संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद समता आधारित समाज निर्माण भारतीय समाज के लिए आज भी दूर की कौड़ी है।

गाँधी के चिंतन का केंद्र 'मनुष्य' था। उन्होंने एक आदर्श समाज का 'मॉडल' प्रस्तुत किया है, जिससे मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्वीकार किया गया है और वर्ण, वर्ग, जाति, धर्म, संप्रदाय, रंग–रूप, धन–संपत्ति, नस्ल, भाषा, लिंग तथा अन्य किसी भी प्रकार दोनों के शोषण, उत्पीड़न एवं दमन का कोई स्थान नहीं है। वे साम्राज्यवाद एवं ब्राह्मणवाद के विरोधी थे। लेकिन, उनके लिए साम्राज्यवाद से मुक्ति का सवाल प्राथमिक और ब्राह्मणवाद से मुक्ति का द्वितीयक था। यही कारण है कि अस्पृश्यता–निवारण के बगैर स्वराज की प्राप्ति असंभव है, ऐसा कहने के बावजूद वे लगातार इस बात पर जोर देते रहे कि अंग्रेजों से मुक्ति के बाद भारतीय स्वयं अस्पृश्यता की समस्या का हल निकाल लेंगे। अन्य अनगिनत देशभक्तों के साथ गाँधी के संघर्षों के परिणामस्वरूप भारत को साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति मिली और संविधान के माध्यम से बहुत हद तक ब्राह्मणवाद से मुक्ति की भी आशा जागी। लेकिन, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दोनों के अनुयायी इस 'मिशन' को पूरा करने के प्रयास में विफल रहे। इसलिए, आज साम्राज्यवाद एवं ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष में बिखराव आया है और नव–साम्राज्यवाद एवं नव–ब्राह्मणवाद का उदय हुआ है, जिसके जरिए शोषण एवं उत्पीड़न के नए–नए रूप सामने आ रहे हैं। कई लोग साम्राज्यवाद को ही एकमात्र खतरा मानते हुए ब्राह्मणवाद को नजर अंदाज करते हैं, तो कई लोग ब्राह्मणवाद से लड़ने के लिए साम्राज्यवादियों के प्रशंसक बन जाते हैं। ऐसे में साम्राज्यवाद एवं ब्राह्मणवाद दोनों के खिलाफ एक साथ संघर्ष करने की आवश्यकता है; क्योंकि साम्राज्यवाद एवं ब्राह्मणवाद दोनों को ही बुनियाद शोषण पर आधारित है। सभी प्रकार के शोषण का अंत किए बगैर गाँधी के सपनों का सर्वोदयी समाज कायम नहीं हो सकता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. राम, जगजीवन; *भारत में जातिवाद और हरजन समस्या,* राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981, पृ. **25.**
2. अम्बेडकर, डॉ. बी. आर.; *एनिहिलेशन ऑफ कास्ट,* बहुजन पत्रिका, प्रकाशन, जलंधर,1968, पृ. **126–127.**
3. अम्बेडकर,डॉ. बी. आर.; *जातिभेद का उच्छेद*, बहुजन कल्याण प्रकाशन, लखनऊ, पृ. **124–25.**
4. *गाँधी*, म. क. हरिजन, 18 जुलाई, 1936.
5. *सम्पूर्ण गाँधी वांड0मय*, खण्ड– 51, पृ. **214.**
6. *गाँधी,* एम. के.; वर्णाश्रम धर्म, नवजीवन ट्रस्ट, 1926, पृ. **40**.

7. *दामोदरन,* के. भारतीय चिंतन परंपरा, पृ. **461.**
8. *गाँधी,* म. क.; हरिजन, 18 जुलाई, 1936.
9. *गाँधी;* सम्पूर्ण गाँधी वांड0मय, खण्ड–17,पृ. **493–494**.
10. *गाँधी,* म. क.; कलेक्टेड वर्क्स, पृ. **98**.
11. *गाँधी;* सम्पूर्ण गाँधी वांड0मय, खण्ड–17, पृ. 493–494.
12. *गाँधी;* यंग इंडिया, 29 सितम्बर, 1921.
13. *गाँधी;* यंग इंडिया, 8 दिसम्बर, 1920.
14. *गाँधी;* सम्पूर्ण गाँधी वांड0मय, खण्ड–17, पृ. **493–494**.
15. सिंह, श्रीभावान; *गाँधी और दलित भारत जागरण,* भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली–3, 2008, पृ. **8–9.**
16. *गाँधी;* सम्पूर्ण गाँधी वांड0मय, खण्ड–51, पृ. **214**.
17. राजकिशोर (सं.); हरिजन से दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1995, पृ. **5–6.**
18. राम, जगजीवन; *भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या,* राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. **18–19.**
19. सागर, एस. एल.; *दलितों के बाबूजी,* सागर प्रकाशन, मैनपुरी, पटना, द्वितीय संस्करण, 1993, पृ. **6**.